भारत में समाजवादी आन्दोलन*

भारत में समाजवादी आन्दोलन के बारे में कुछ कहना कठिन है। अगर कोई इस आन्दोलन में है, इसका अंग है तो वह इसमें इतना डूबा हुआ है, निमग्न है कि वह इसके बारे में तटस्थ होकर नहीं देख सकता। और अगर वह इस आन्दोलन में नहीं है, इसके बाहर है, तो बाहरी आदमी के इस आन्दोलन के बारे में कुछ कहने का खास अर्थ नहीं। वह तो बाहरी है। उसे आन्दोलन की अन्दरूनी असलियत और आदर्श और समस्या और सामर्थ्य का ठीक-ठीक पता नहीं। उसके कुछ कहने, न कहने का क्या मतलब? मैं अब समाजवादी आन्दोलन में नहीं हूँ। एक बाहरी आदमी हूँ। मेरे जैसा बाहरी आदमी इस पर कुछ कहने का अधिकारी नहीं। फिर भी पुराने साथियों का आग्रह है तो यथाशक्ति कुछ कहना है। इसमें मेरा कोई आग्रह या अभिनिवेश नहीं। जो काम में लगा हुआ है, उसमें मति-भ्रम पैदा करना इष्ट नहीं। सिद्धान्त और कार्यक्रम के बारे में आपकी पार्टी जो तय करे, आपके लिए सो ही करणीय है।

2. भारत में समाजवादी आन्दोलन विश्व समाजवादी आन्दोलन का एक अंग है। वैसे तो समाजवाद में निहित समता आदि के आदर्श प्रायः उतने ही पुराने हैं, जितना मनुष्य समाज। पतंजलि ने समाज की परिभाषा की है : *समम् अजन्ति जनाः अस्मिन् इति।* जहाँ लोग समान रूप से अजन करें, चलें, सो समाज है। समरूप से चलने का मतलब कदम से कदम मिलाकर पलटन के जवान की तरह परेड करना नहीं, बल्कि सम चित्तता, सम-गतिशीलता है। 'वाद' का पुराना तर्कशास्त्रीय अर्थ तो बातचीत है। इस पर से इसका विचारधारा, विचार-दर्शन 'इज्म' का अर्थ भी निकाला जा सकता है। इस प्रकार समाजवाद का मूल प्राचीन

* सोशलिस्ट पार्टी के राष्ट्रीय शिविर, सारनाथ, वाराणसी में 13 अक्टूबर, 1985 ई. को दिए गए भाषण के आधार पर।

Scanned with CamScanner

परम्पराओं में देखा जा सकता है। सो गलत नहीं, किन्तु विशेष पारिभाषिक अर्थ में समाजवाद का उद्‌भव और विकास आधुनिक पश्चिमी यूरोप में हुआ है। शब्द का जन्म, जीव की तरह ही धुन्ध और अँधेरे में ही होता है। फिर भी कई उद्‌गम सुलझाए जाते हैं। फ्रांसीसी भाषा में इसका प्रथम प्रयोग 13 फरवरी, 1832 के ग्लोब में हुआ। यहाँ 'सोशलिस्ट्स' शब्द का प्रयोग सेण्ट साइमन के अनुयायियों के अर्थ में हुआ। एक धार्मिक पत्रिका में इससे एक साल पहले का भी प्रयोग ढूँढ़ा गया है। अंग्रेज इस शब्द के गढ़ने का श्रेय खुद को देते हैं। लन्दन कोआपरेटिव मैगजीन में 1826 ई. में यह प्रयोग में आया। इसके कई साल बाद रॉबर्ट ओवेन के अनुयायी अपने को समाजवादी कहने लगे। जाहिर है कि 1830 ई. के आसपास यह शब्द पश्चिमी यूरोप में हवा में था। इस पर पहला व्यवस्थित निबन्ध फ्रांसीसी इन्साइक्लोपिया में 1835 ई. में छपा। इसकी गूँज दुनिया में मार्क्स और एंगेल्स रचित **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** (1848 ई.) के साथ हुई। फिर भी, अगर पहले निबन्ध से शुरूआत मानें तो 1835 ई. से लगाकर 1985 ई. तक डेढ़ सौ वर्षों में इस शब्द और विचार और व्यवहार ने सारे विश्व को कमोबेश प्रभावित किया है। इतनी तेजी से और व्यापक रूप से शायद ही किसी विचार का प्रचार-प्रसार हुआ हो। इस सिलसिले में जानकार लोग इस्लाम का उदाहरण देते हैं। मुहम्मद साहब के 150 वर्षों बाद इस्लाम का प्रसार एक नजदीकी है, किन्तु आधुनिक विज्ञान और टेक्नालाजी के कारण शायद समाजवाद की व्याप्ति इस्लाम से ज्यादा है। आज की दुनिया में सोवियत रूस और पूर्वी यूरोप के देश, एशिया में चीन, उत्तरी कोरिया, मंगोलिया, वियतनाम, अमरीका में क्यूबा, अफ्रीका में यमन और अन्य नव-स्वतन्त्र देशों की सरकारें अपने को समाजवादी कहती हैं। प्रायः एक-तिहाई विश्व सीधे समाजवादी कहलाता है। शेष दो-तिहाई में भी इसका प्रतिपक्ष या मिश्र रूप में प्रभाव है। उदारवादी, जनतांत्रिक पूँजीवादी पश्चिमी दुनिया में भी समाजवाद की अनेक कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ अपना ली गयी हैं। शेष एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीकी महाद्वीपों और देशों में पश्चिमी पूँजीवादी और समाजवादी छायाएँ टकरा रही हैं या मिलकर मिश्रित अर्थ-राज्य प्रणाली को जन्म दे रही हैं। इस प्रकार प्रायः 150 वर्षों में समाजवाद की व्याप्ति विश्वव्यापी है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

3. भारत में समाजवादी आन्दोलन प्रायः 50 बरस का हो चुका है। वैसे शब्द प्रयोग और लिखन्त-पढ़न्त तो और भी पहले का है, किन्तु अगर इस इतिहास

Scanned with CamScanner

दी। सर्वश्री जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन, युसुफ मेहर अली, मीनू मसानी, अरुणा आसफ अली, कमला देवी चट्टोपाध्याय आदि युवक-युवतियाँ पाश्चात्य प्रकार की शिक्षा-दीक्षा वाले थे। समाजवाद के पाश्चात्य प्रकार को मानने वाले थे। भारतीयता के प्रति उनमें आकर्षण था। वह उनको बाँधती थी। आधुनिकता उन्हें खींचती थी। वे पूरी तरह इधर या उधर नहीं बह जाना चाहते थे। भारतीय संस्कृति का उनका परिचय मौखिक और मोह का था। उसका कोई अध्ययन या ज्ञान उन्हें न था। आचार्यजी भारतीय संस्कृति के व्यवस्थित अध्येता थे। उन्होंने इस संस्कृति की दो धाराओं को लक्ष्य किया था। ब्राह्मण धारा और श्रमण धारा। श्रमण परम्परा, विशेषकर बौद्ध धर्म दर्शन उनकी गम्भीर आलोचना का विषय था। वे गाँधीजी को भारतीय जन-मानस क्यों स्वीकार करता था, इसकी व्याख्या करते हुए उसी श्रमण परम्परा का महात्म्य मानते थे। जो कोई अपना घर-बार छोड़ दूसरों के लिए मारा-मारा फिरता है, उससे चाहे हम सहमत हों, न हों, उसका आदार करते हैं। यह गौतम बुद्ध और महावीर जैसे श्रमणों और अन्य अनेक प्रकार के अवैदिक श्रमणों की परम्परा के प्रति आदर के चलते है। इसी प्रकार से अन्य बातों में भी उनकी अन्तर्दृष्टि से इन पाश्चात्य प्रशिक्षित युवा-युवतियों को आचार्यजी के द्वारा भारतीय संस्कृति की गम्भीरता और व्यापकता का परिचय मिलता था और उनके आन्दोलन को भी, किन्तु इससे भी ऊपर उनका घर उन सबके लिए सदा खुला रहता था और उन्हें उनका सहज स्नेह, बल्कि वात्सल्य मिलता था और अपने आपसी मतभेद और राग-द्वेष के साथ यह प्रतिभाशाली समूह एक साथ काम करता रहता था।

प्रतिभा से प्रतिभा का दीप जलता है। इस प्रतिभाशाली समूह का राष्ट्रीय आन्दोलन पर भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव प्रारम्भ से ही पड़ने लगा। राष्ट्रीय आन्दोलन महात्मा गाँधी के नेतृत्व में असहयोग, स्वदेशी, नमक सत्याग्रह आदि के दौर से गुजरकर जैसे शिथिल पड़ रहा था। मात्र गाँधीजी का आकर्षण युवकों के लिए काफी न था। जैसे एक वैचारिक रिक्तता का अनुभव हो रहा था। गाँधीजी के सत्य, अहिंसा के प्रयोग अब नयी पीढ़ी को उतना आकृष्ट नहीं कर रहे थे। इस रिक्तता को समाजवादी आन्दोलन ने भरा। इसने एक आधुनिक विचारधारा को भारतीय जमीन पर उतारने की जो कर्मचेष्टा की, उसमें अनेक प्रतिभाशाली युवक-युवतियाँ शरीक हुए थे, जो अन्यथा गाँधीजी के आन्दोलन में शायद न आते।

1934 ई. में अपने संगठन के प्रारम्भ से आजादी की प्राप्ति के कुछ बाद तक 1948 ई. तक कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्दर ही काम करती रही। अपने विचारों और कर्म से उसे सुलगाती रही। आजादी की समाजवादी कल्पना को रंग-रूप देने की चेष्टा करती रही। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में इस समूह ने कई चमत्कारी काम किये। आचार्य नरेन्द्रदेव तो महात्मा गाँधी और कांग्रेस कार्यसमिति के अन्य सदस्यों के साथ बम्बई में ही गिरफ्तार कर लिए गये। जयप्रकाशजी हजारीबाग जेल की दीवार फाँद कर निकले। डॉक्टर राममनोहर लोहिया और अन्य ने भूमिगत रहकर रेडियो और अन्य माध्यमों के जरिए 1942 की क्रान्ति को जीवित रखा। इनकी गिरफ्तारी और जेल में यन्त्रणा वगैरह से देश के जुझारू युवकों पर इनका बड़ा प्रभाव था। रिहाई के बाद, विशेषकर जयप्रकाशजी तो युवकों के'हीरो' बन गसे थे। वैसे जैसे कि कभी जवाहरलालजी थे, किन्तु अब तो युवक हृदय सम्राट बहुत करके जयप्रकाशजी थे।

फिर भी 1946 ई. में कांग्रेस संगठन में विशेषकर बिहार या बम्बई में इनका विशेष स्थान न था। उत्तर प्रदेश में आचार्यजी के प्रभाव से यू.पी. कांग्रेस कमिटी के अध्यक्ष उन दिनों श्री दामोदस्वरूप सेठ थे। आचार्यजी स्वयं उ.प्र. कांग्रेस संसदीय बोर्ड के अध्यक्ष थे, किन्तु अन्य-अन्य नेताओं और प्रान्तीय शाखाओं का जोर 46 में ही कानपुर सम्मेलन में कांग्रेस से निकलने का था। आचार्यजी की यह राय थी कि अभी कांग्रेस से अलग होने का समय नहीं है, क्योंकि देश संकट से गुजर रहा है। आचार्यजी की सलाह मानकर निर्णय को टाल दिया। महात्मा गाँधी की हत्या के बाद कांग्रेस ने यह निश्चय किया कि कांग्रेस के अन्दर कोई और पार्टी नहीं रह सकती। फिर तो कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के लिए अपने स्वत्व और स्वाभिमान का प्रश्न उपस्थित हो गया। 1948 ई. में नासिक सम्मेलन में कांग्रेस से अलग हटने का निश्चय हुआ। कांग्रेस पद भी अब इसके नाम से हट गया। सोशलिस्ट पार्टी के नाम से अब पार्टी काम करने लगी।

सोशलिस्ट पार्टी के प्रारम्भिक दिनों में एक सैद्धान्तिक विवाद 'वर्कर्स पार्टी' बनाम् 'मास पार्टी' का था। पार्टी निष्ठावान और परीक्षित कार्यकर्ताओं की पार्टी हो या जनसाधारण की, इसको लेकर बड़ा विवाद होता था। अन्ततः जनतन्त्र को मानने के कारण पार्टी ने एक मास पार्टी का रूप लेने का निश्चय किया। कई एक सिद्धान्तनिष्ठ साथी आज भी यह मानते हैं कि यह एक दुर्भाग्यपूर्ण

Scanned with CamScanner

निर्णय था। अगर यह 'वर्कर्स पार्टी' ही रहती तो संख्या बल में कम होते हुए भी ज्यादा शुद्ध-बुद्ध रहती और इसलिए ज्यादा असरदार होती। जो हो।

4. यहाँ मुड़कर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (1934-48 ई.) का क्या योगदान रहा, यह देखा जा सकता है। राष्ट्रीय आन्दोलन को समाजवादी देन का जिक्र पहले भी हो चुका है। राष्ट्रीय आन्दोलन जहाँ आकर थम गया था, उसमें समाजवादी आन्दोलन ने नया प्राण फूँका, वैचारिक रिक्तता को भरा और प्रतिभाशाली युवक-युवतियों को राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा में आकृष्ट किया। इसे विद्या-आचरण सम्पन्न कार्यकर्ता और नेता दिया। यह कुछ कम नहीं, किन्तु इसके साथ-साथ समाजवादी आन्दोलन ने समाजवाद के सिद्धान्त और व्यवहार को जो देन दी, वह भी कुछ नहीं। खेद है कि आन्दोलन के शक्ति प्राप्त करने के पहले ही बिखर जाने से समाजवाद को इस देन का भली प्रकार विचार नहीं हो पाता। इसलिए भी इसका उल्लेख जरूरी है।

एक तो भारत के समाजवादी आन्दोलन ने राष्ट्रीयता को समाजवादी सिद्धान्त और व्यवहार में अंगीकार करने पर बल दिया। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलन का अंग थी, किन्तु यह उसके अस्तित्व की आवश्यकता मात्र नहीं थी, जो उसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के साथ समाजवाद की ओर उन्मुख किए हुए थी। यह उसकी समझ का अंग भी था। समाजवादी और रायपन्थी कांग्रेस को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के संघर्ष का उपकरण समझते थे। उनके मत में कांग्रेस का नेतृत्व चाहे जैसा हो, आन्दोलन की दृष्टि से कांग्रेस एक क्रान्तिकारी शक्ति थी। इसी स्थल पर इनका कम्युनिस्टों से मतभेद था।

कम्युनिस्ट सिद्धान्त में अन्तराष्ट्रीयता का एकांगी बल प्रारम्भ से था। समाजवाद एक विश्वदृष्टि है। कम्युनिस्ट घोषणापत्र का नारा है: "दुनिया के मजदूरो एक हो।" अपनी छवि पर विश्व का निर्माण, विश्व बाजार और विश्व मन और विश्व साहित्य इत्यादि पर जोर इसका एक खास आकर्षण है। हम एक अन्तरराष्ट्रीय आन्दोलन के अंग हैं, यह जो उछाल लाता है, वह हेय नहीं, किन्तु यह अन्तराष्ट्रीयता राष्ट्रीय विशिष्टताओं और स्वतन्त्रताओं की कीमत पर हरगिज नहीं प्रतिष्ठित हो सकती या ऐसा करना श्रेयस्कर नहीं। इसलिए भारत में समाजवादी आन्दोलन ने प्रारम्भ से ही देशप्रेम के साथ, इसके बिना नहीं, मानव अखण्डता पर बल दिया। स्वस्थ राष्ट्रीयता के आधार पर ही सच्ची अन्तरराष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा

Scanned with CamScanner

यूरोपीय जातियों का साम्राज्यशाही दृष्टिकोण है। मार्क्स और एंगेल्स में भी यह राष्ट्रीय दर्प है। उनका समाजवाद 'सत्य' या 'वैज्ञानिक' या 'जर्मन' है। यह सब जैसे पर्याय हैं। फिर, भारत सहित एशिया-अफ्रीका में पश्चिमी यूरोपीय शक्तियों की विजय को प्रगतिशील कदम मानने में भी यही राष्ट्रीय अंहकार जाने-अनजाने काम कर रहा है। यह दर्प शायद उन्नीसवीं सदी की गोरी यूरोपीय जातियों में अनायास है। मार्क्स-एंगेल्स भी शायद अनजाने इस मिथ्या दर्प के तिमिर के रोगी हैं, लेकिन हैं। वास्तव में इनकी अन्तराष्ट्रीयता प्रधानतः पश्चिमी यूरोप में केन्द्रित है। यह उनके संगठन में भी देखी जा सकती है। प्रथम और द्वितीय सोशलिस्ट इण्टरनेशनल प्रधानतः अंग्रेज, फ्रांसीसी और जर्मन समाजवादियों तक सीमित हैं। कम्युनिस्ट घोषणापत्र में अन्य देशों की राजनीतिक गतिविधि का जो विश्लेषण है, उसमें एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका की तो बात ही नहीं, रूस और अमरीका को भी स्थान नहीं।

इसकी भी यूरोप में जैसे एक परम्परा है। प्रारम्भ में 'पैक्स रोमाना' का दावा था। जैसे शान्ति रोम के साम्राज्य के साथ आ सकती है। फिर एक प्रकार से 'पैक्स क्रिश्चियाना' आया। शान्ति और सभ्यता ईसाई धर्म को मानकर ही आ सकती हैं। मिशनरी काम के पीछे यह प्रेरणा रही है। इसी परम्परा में 'पैक्स मार्क्सियाना' आता है। शान्ति और सभ्यता तो मार्क्सवाद में मानने से ही आती है, अन्यथा नहीं। इसलिए जब कम्युनिस्ट देश किसी देश पर कब्जा करते हैं जैसे—तिब्बत या पूर्वी यूरोप या अफगानिस्तान पर तो वे उसे जीतते नहीं, 'मुक्त' करते हैं!

इस परम्परा की अन्तराष्ट्रीयता के बजाय भारत में समाजवादी आन्दोलन ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और विशिष्टता पर टिकी अन्तरराष्ट्रीयता, देशप्रेम के साथ

Scanned with CamScanner

वर्ग-सम्बन्ध बनाता है। इस प्रकार उसमें वर्ग-चेतना का उदय होता है और फिर पूँजी संचय की मार्क्सीय व्याख्या में पूँजीवादी विकास में पूँजी का थोड़े-से हाथों में केन्द्रीकरण होता है और दूसरी ओर बहुसंख्यक सर्वहारा का समाजीकरण निरन्तर दरिद्रीकरण होता है। इस प्रकार एक ओर मुट्ठीभर पूँजीपति, दूसरी ओर बहुसंख्यक सर्वहारा, उसमें बढ़ता समाजीकरण, दरिद्रीकरण। इन सबसे क्रान्तिकारी स्थिति का परिपाक होता है। इसमें शासक वर्ग को छोड़कर कुछ क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी भी शमिल होते हैं। इनमें क्रान्ति की समझ और कौशल होता है। नेतृत्व इनका होता है, किन्तु क्रान्ति का वाहन तो सर्वहारा ही होता है। किसान तो विशेषकर अपनी भूमि से लगाव के कारण इस दृष्टि में प्रतिगामी माना जाता है, यह इतिहास के चक्के को पीछे घुमाना चाहता है। इस यूरोप-केन्द्रित व्याख्या को एशिया में शब्दशः लगाया जाए तो एशिया इत्यादि महाद्वीपों में कोई क्रान्ति हो नहीं सकती, क्योंकि अभी तो यहाँ सामन्ती प्रथा ही प्रधानतः है। पूँजीवाद में भी संक्रमण नहीं हुआ। यहाँ औद्योगिक सर्वहारा वर्ग ही नहीं तो फिर समाजवादी क्रान्ति का प्रश्न ही नहीं। कभी-कभी इतिहास के चरणों की अनिवार्य क्रमिकता को यह कहकर भी ढीला किया जाता है कि एक के बाद एक चरण आए सो जरूरी नहीं। एक से अधिक चरण एक साथ युगपत् भी हो सकते हैं। जैसे सामन्ती प्रणाली से पूँजीवादी प्रणाली होकर ही इतिहास चलता है, ऐसा शास्त्र वचन है, किन्तु आपद् धर्म के रूप में यह भी कहा जाता है कि सामन्ती से सीधे समाजवादी चरण में छलाँग लगाई जा सकती है जैसी गति एक हद तक सोवियत रूस में या आगे चलकर कम्युनिस्ट चीन में देखी गयी। फिर भी किसान की प्रति क्रान्तिकारिता तो कायम रहती है। वह तो सीधे मार्क्स का सूत्र है। शास्ता का वचन है। वह तो मृषा नहीं हो सकता। इससे भिन्न व्याख्या प्रारम्भ से भारत के समाजवादी आन्दोलन की रही है। आचार्य नरेन्द्रदेव ने इस प्रश्न पर एक छोटी-सी पुस्तिका लिखीः **किसानों का सवाल**। इसमें मार्क्सवाद का भाष्य करके वतलाया गया है कि एशिया में तो अगर व्यापक क्रान्ति करनी है तो इसका वाहक किसान है, क्योंकि यही यहाँ का शोषित वर्ग है। बाद के विश्लेषण से स्पष्ट है कि सर्वहारा वर्ग एक तो यहाँ नगण्य है, दूसरे औद्योगिक व्यवस्था में उसका भी निहित स्वार्थ

Scanned with CamScanner

क्रान्ति होने के बाद इसे व्यवहार और रणनीति में स्थान दे दिया गया। सफलता का तो अपना ही तर्क है। सफलता से ज्यादा सफल क्या हो सकता है? किन्तु भारत में समाजवादी आन्दोलन ने इस सफलता के वर्षों पूर्व शुद्ध सैद्धान्तिक आधार पर भी किसानों का सवाल क्रान्ति की कार्यसूची पर उपस्थित किया।

परम्परागत समाजवादी साधन की शुद्धता के पक्षधर नहीं हैं। वे बहुत करके मानते है मानो 'एंड्स जस्टिफाई द मींस', अर्थात् साध्य-साधन का औचित्य सिद्ध करते हैं। अगर साध्य अच्छा है तो इसके लिए खराब साधन का प्रयोग चलेगा। असल में इसे मार्क्स पर आरोपित करना सही नहीं। शायद यह मैकियावेली का नुस्खा है, जो मार्क्सवादी परम्परा में भी जैसे आ गया है। जो हो, भारत में समाजवादी आन्दोलन शायद गाँधीजी से या अहिंसा इत्यादि की दीर्घकालीन परम्परा से जुड़कर साधन-साध्य की पवित्रता को मानता है। वैसे समाजवादी बहुत करके गाँधीजी की तरह अहिंसा में एकान्त आस्था नहीं रखते रहे हैं। क्रान्ति के लिए या सत्ता-व्यवस्था के चलाने में हिंसा का नितान्त निषेध नहीं करते, किन्तु अहिंसक प्रतिकार को आन्दोलन का श्रेष्ठ आधार और हथियार बहुत करके मानते हैं। जहाँ इससे स्खलित होते हैं, वहाँ भी इस पर वे कम्युनिस्टों से भिन्न हैं। एक प्रकार की शर्म का एहसास करते हैं। सिद्धान्तःसाधन-साध्य में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते हैं और अच्छे साध्य के लिए अच्छे साधन के प्रयोग को अच्छा मानते हैं।

इसके अलावा भारत में समाजवादी आन्दोलन प्रारम्भ से ही समाजवाद को सिर्फ रोजी-रोटी की लड़ाई नहीं, एक सांस्कृतिक आन्दोलन मानता रहा है, जबकि स्तालिनवाद के उस दौर में तो अर्थवाद का ज्यादा ही जोर था। लुकाच, ग्राम्सी आदि के प्रभाव से अब यह बदल रहा है। फिर भी मार्क्स में एक प्रकार का आर्थिक नियतिवाद माना जाता रहा है। हालाँकि आचार्य नरेन्द्रदेव ने उन दिनों भी इस नियतिवाद का खण्डन किया था। ऐसा करते हुए उन्होंने इस बहस को एक गम्भीर भूमि पर पहुँचा दिया। आचार्यजी का मत है कि अपने मूल रूप में नियतिवाद का प्रश्न जीव-स्वातन्त्र्य के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। क्या मनुष्य स्वतन्त्र कर्ता है या अवश हो कर काम करता है? इस स्तर पर विचार करते हुए आचार्यजी का निष्कर्ष है कि मार्क्सवाद नियतिवाद नहीं है। फिर, मार्क्स-एंगेल्सवाद न शुद्ध आर्थिक है, न आर्थिक से भिन्न है। यह जो दार्शनिक भूमि है, यह तो पाश्चात्य समाजवाद को भारतीय समाजवाद की ही देन है।

Scanned with CamScanner

इस दृष्टि से भारत में समाजवादी आन्दोलन ने भारतीय समाज-संस्कृति में निहित विषमता और उसके कारण और उपायों का जो विचार प्रारम्भ किया, वह परम्परागत मार्क्सवादी दृष्टि से सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए ब्राह्मण-श्रमण, कर्म कर्मफल, पुनर्जन्म, शुद्धता-अशुद्धता, जाति-वर्ग, हिंसा-अहिंसा आदि को परम्परागत समाजवादी विचार का विषय भी नहीं मानते, क्योंकि एक तो यह जाति, शुद्ध-अशुद्ध भारतीय संस्कृति-सापेक्ष है। यह तथ्य मूल समाजवादी विश्लेषण का विषय नहीं है। वहाँ इस रूप में उपस्थित नहीं। इसलिए उनके अनुगामी विचारशील विश्लेषक भी इनकी अनदेखी करते हैं या भोंड़ी आर्थिक व्याख्या करते हैं या जाति की समस्या को वर्ग संघर्ष में ही अन्तर्भुक्त करते हैं। असल में तो अपनी दृष्टि, ऐनक के चलते इसे देखते ही नहीं या अपने ही रंग में रंग देखते हैं। इसलिए नहीं देखते हैं।

यह योगदान की सूची पूरी और बन्द नहीं। इसमें खोजकर और चीजें जोड़ी जा सकती हैं। फिर भी राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सा लेते हुए भी इतनी सारी देन अपने आप में क्या काम है?

5. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद 1948 ई. से स्वतन्त्र रूप से सोशलिस्ट पार्टी ने जब काम शुरू किया तो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का ज्वार उतर रहा था और उसके फेन पर तैरती हुई इस आन्दोलन के नेताओं की छवि भी। इसे अपनी सतह पर आने का गहरा आघात सहना था। राष्ट्रीय आन्दोलन का जो श्रेय था, वह तो कांग्रेस पार्टी के साथ रह गया। सोशलिस्ट पार्टी को तो उससे अलग अपनी काँटों भरी राह पर बियाबान में भटकना था। फिर भी श्री नेहरू की कांग्रेस पार्टी का विकल्प बनने का सोशलिस्ट पार्टी का सपना था। सोशलिस्ट पार्टी ने संविधान सभा में भाग नहीं लिया।

वैकल्पिक संविधान का प्रारूप पेश किया। विदेश नीति के क्षेत्र में तीसरी शक्ति, जमींदारी उन्मूलन, भूमि-सुधार, पूँजीवाद-साम्यवाद की समान निरर्थकता, विकेन्द्रीकरण आदि के प्रश्नों पर सोशलिस्ट पार्टी ने उस भूमि से कांग्रेस पार्टी पर प्रहार किया जैसे वह समान हैसियत की पार्टी हो। 1952 ई. के प्रथम आम चुनाव के पहले और उसके बीच भी सोशलिस्ट पार्टी का यही तेवर था। वैसे भी जयप्रकाशजी की जनसभा जवाहरलालजी की टक्कर की होती थी, बल्कि किसी माने में तो ज्यादा असरदार और अर्थवान, क्योंकि नेहरूजी का तो 'दर्शन' करके ही अधिकांश भीड़ छँटने लगती थी, जबकि जयप्रकाशजी को तो घंटों सुनती थी।

Scanned with CamScanner

वैसे प्रधानमंत्री की 'उपस्थिति' ही काफी होती थी। फिर भी सोशलिस्ट पार्टी को आशा थी कि ट्रावनकोर-कोचीन, बम्बई, रीवां, उड़ीसा, बिहार आदि में सोशलिस्ट सरकार कायम होगी। आम चुनाव के नतीजों ने इसे निर्मूल सिद्ध किया। पहला आम चुनाव स्वतन्त्र सोशलिस्ट आन्दोलन के लिए शायद पहला मोहभंग था। इस चोट को यह पाँच साल की शिशु पार्टी झेल नहीं पायी।

1953 ई. में कांग्रेस पार्टी से असन्तुष्ट, किन्तु राज्यों में असरदार नेतृत्व को लेकर बनी आचार्य कृपलानी की किसान-मजदूर प्रजा पार्टी से और कुछेक अन्य वामपन्थी पार्टियों से सोशलिस्ट पार्टी ने विलय वार्ता चलायी। अन्ततः इलाहाबाद में विलीन दलों का प्रथम सम्मेलन प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के नाम से हुआ। अपने पैरों पर खड़े होने के बजाय एक बड़ी पार्टी, चमक-दमक वाले मुखौटों की पार्टी की जरूरत तो इससे फिलवक्त पूरी होती दीखी, किन्तु इसके बाद समाजवाद की पार्टी जैसी कोई चीज नहीं रह गयी। सम्मेलन में कहा गया कि प्रयाग में त्रिवेणी का संगम हो रहा है। इससे बड़ी धारा बनेगी। तो आचार्यजी ने कहा था कि हाँ धारा बड़ी होगी तो बड़े-बड़े मगरमच्छ भी आएँगे। आचार्यजी को यह विलय पसन्द नहीं था, किन्तु जब पार्टी ने बहुमत से स्वीकार किया तो इसके साथ रहे। जयप्रकाशजी इसके थोड़ा पहले ही आचार्य विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन में शरीक हो गये थे और दलीय राजनीति से धीरे-धीरे दूर हट रहे थे। इसमें पहले आम चुनाव की असफलता, आपसी मन-मुटाव, चरित्र-हनन और अतृप्त आध्यात्मिक भूख का कितना-कितना अंश था, यह कहना कठिन है। इस विलय के लिए पहल करने में डॉ. राममनोहर लोहिया और श्री अशोक मेहता ही मुख्य थे। इसमें नये जमाव में अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने की स्पर्द्धा कितनी थी? समाजवादी पार्टी को ज्यादा कारगर बनाने की तलब कितनी थी? या दोनों ही किस मात्रा में थी? यह कहना कठिन है।

जो कुछ हो, इस बीच आपसी जोड़-तोड़ चलती ही रही, कमी नहीं। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के अध्यक्ष आचार्य कृपलानी हुए, किन्तु अब इसमें वह पहले

Scanned with CamScanner

जो भी हो, ट्रावनकोर-कोचीन में अल्पमत में होते हुए श्री पट्टम थानु पिल्ले के नेतृत्व में पहले तो प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की सरकार बनी। इसे अपनी रणनीति की सफलता मानी गयी। फिर उस सरकार ने निहत्थी भीड़ पर गोली चलायी। उस पर नहर रेट आन्दोलन में गिरफ्तार प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के तत्कालीन महामन्त्री डॉ. राममनोहर लोहिया ने सरकार को इस्तीफा देने को कहा। सरकार ने इस्तीफा दिया नहीं। इसको लेकर पार्टी में बड़ा विवाद खड़ा हुआ। उधर, प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने जयप्रकाशजी को केन्द्रीय सरकार में सोशलिस्टों को शामिल होने का प्रस्ताव किया। जयप्रकाशजी की ओर से सरकार से सहयोग के लिए 14 सूत्रीय कार्यक्रम को आधार मानने को कहा गया। श्री नेहरू ने उसे स्वीकार नहीं किया, किन्तु इसे लेकर लोहियाजी ने जयप्रकाशजी पर जैसे सरकार-लोलुप होने का व्यंग्य-बाण चलाना शुरू किया। वैसे भी इन दिनों शायद नेतृत्व के लिए स्पर्द्धा या/और विचारों के मतभेद के चलते जयप्रकाशजी लोहियाजी के सम्बन्ध प्रीतिकार नहीं थे। इस दुखद प्रसंग को मैंने अपने युग दिनों में खुद देखा-सुना है। इसलिए इसका विस्तार या इसमें दोषी कौन और कितना, इसका विवेक भी न करूँगा। सिर्फ इतना ही कहना चाहूँगा कि यह प्रसंग दुर्भाग्यपूर्ण है और इससे भी ज्यादा दुर्भाग्यपूर्ण है 1955 ई. की पार्टी की टूट।

इस टूट के बाद फिर सोशलिस्ट आन्दोलन की कोई एक पार्टी, जैसी भी थी, वह रही नहीं। आन्तरिक जनतन्त्र और अनुशासन वगैरह का जो भी तर्क उन दिनों चला, उससे कोई जानकर अपरिचित नहीं। कोई न कोई तर्क; बल्कि तर्कों या कारणों का समूह किसी भी कार्य के पीछे रहता ही है। इस टूट के पीछे भी कारण-समूह, हेतु-प्रत्यय सामग्री रही ही है। इसकी तफसील से व्याख्या का यह अवसर नहीं और जैसी एक तिब्बती कहावत है कि अगर कोई पिता की हत्या करता है तो उसके लिए भी उसके पास तर्क रहता है। तो 55 की टूट, जिसमें मैं विन्रम शक्ति और गति और मति के साथ टूट के पक्ष में था, उस टूट के लिए प्रस्तुत हेतु-सामग्री से अत्यन्त परिचित हूँ। फिर भी आज जब मुड़कर देखता हूँ तो वह टूट दुर्भाग्यपूर्ण दीखती है। जो वह टूटी सो टूटी, फिर जुड़ी नहीं। वीत गयी सो बात गयी। फिर बात बनाए न बनी। वैसे प्रायः दस वर्ष बाद बनारस में फिर सोशलिस्ट पार्टी और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के एक धड़े को मिलाकर संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी बनी। फिर वह भी लोहियाजी की मृत्य के बाद टूटी। फिर एक धड़े भारतीय क्रान्ति दल, स्वतन्त्र पार्टी के साथ मिला। दूसरा

Scanned with CamScanner

प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के साथ। फिर वह दोनों ही नाम-रूप बदलते-बदलते 1977 ई. में जनता पार्टी में जुड़ा। जनता पार्टी की सरकार भी बनी, 1977 ई. में नेहरू-इन्दिरा शासन का विकल्प। फिर जनता सरकार टूटी।

यह टूट-जुट-टूट का क्रम तो इतनी बार चला और इतना निकट का है कि इन सबके बारे में तो आर्य मौन ही श्रेयस्कर है। इतिहास के इतना निकट होने के पहले ही रुक जाना ठीक है। सो इस प्रकरण को '55 की टूट तक ही मर्यादित रखना ठीक है। शेष तो अभी जीवित स्मृति का विषय है। इतिहास बनने में अभी कुछ विलम्ब है तो ही थोड़ी दूरी से यथासम्भव तटस्थ होकर देखा जा सकता है अन्यथा नहीं।

6. टूट के लिए किसी एक हेतु-प्रत्यय पर एकांगी बल देना ठीक नहीं। जैसे यह कहना कि अगर जयप्रकाशजी लोहियाजी साथ मिलकर काम करते तो यह टूट न होती या कितना अच्छा होता या कि बाद में श्री राजनारायण श्री मधु लिमये साथ मिलकर काम करते तो कितना अच्छा होता। यह होता तो अच्छा ही होता। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, किन्तु इससे ज्यादा महत्त्व का नियम है कि यह होने से यह होता है या यह होता है और यह होता है। **अस्मिन सति इदं भवति।** और जो भी है और होता है वह एक कारण से नहीं, कारणों के समूह से उत्पन्न-नष्ट होता है। उदय-व्यय हेतु-सामग्री का फल है तो टूट भी। यह सिर्फ नेतृत्व की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा का या सैद्धान्तिक मतभेद का या दोनों का प्रश्न नहीं।

असल में टूट का महत्त्व परिणाम की दृष्टि से नहीं। वह तो जो हुआ सो हुआ। सो तो इतिहास है। गतार्थ है। अब प्रश्न है कि क्या यह टूट आकस्मिक आगन्तुक मल है? दुर्भाग्य-मात्र है? या किसी प्रक्रिया का परिणाम है?

इस सम्बन्ध में मेरे एक मित्र कहा करते थे कि समाजवादी आन्दोलन में एक 'अमीबा नियम' काम करता है। जैसे कहते हैं कि प्रारम्भ में एक जीव 'अमीबा' था। जब वह बढ़ा तो टूट कर दो हो गया। फिर वह जो बढ़ा तो टूट कर दो हो गया। फिर वह भी.... । इस प्रकार ही जीव का विस्तार हुआ। यही नियम समाजवादी आन्दोलन में लागू है। जब यह बढ़ता है तो टूट कर दो हो जाता है।

इस सम्बन्ध में एक और बात कही जा सकती है। भारत में समाजवादी आन्दोलन का जन्म भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में हुआ। यह तो वैसा ही है जैसे

Scanned with CamScanner

कोई लड़का ननिहाल में पैदा हो। वह घर बड़ा और भरा-पूरा और सम्पन्न रहे। लड़का नाना-नानी, मामा-मामी के दुलार में पले। उनकी सम्पन्नता में फले-फूले। ऐसे ही सोशलिस्ट नेतृत्व प्रतिभाशाली तो था, किन्तु वह जैसे रातों रात राष्ट्रीय नेता बन गया था। बापू उन्हें मानते थे। नेहरूजी के वे दुलरुवा थे और उस जमाने में सक्रिय युवा-युवतियों के प्रिय थे। फिर भी यह उनका अपना घर न था। जब उन्हें अपना घर बनाना पड़ा तो घर बनाने की कठिनाई समझ में आयी। तो उनमें से कुछ को नानी का घर याद आया। वहाँ कितना अच्छा था। तो कुछ तो वहीं लौट गये। कुछ जो नहीं लौटे, उन्होंने उसी की तरह का अपना एक बड़ा घर, बड़ी पार्टी बनानी चाही। कुछ चुपचाप अपने ही घर में कभी साग-रोटी, कभी खिचड़ी खाकर पड़े रहे फिर बड़की बखरी में न गये, सो न गये। तो रह-रहकर यह जो बड़ी पार्टी बनाने की हूक उठती है, वह कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कांग्रेस में जन्म की स्मृति और संस्कार के चलते है, लेकिन हर हालत में ननिहाल का बड़ा घर अपना घर नहीं। अपना तो अपना ही है। वहाँ भूखों मरना ठीक है। पराए घर का चिकनी-चुपड़ा खाना भयावह है, ऐसे संकल्प के बिना और दीर्घकाल तक धीरज, धर्म और अभ्यास-वैराग्य के बिना तो कोई बड़ी बात बनती नहीं। आज बनाया। कल आयी मौज तो झोपड़ी फूँक दी। इससे फकीरी तो सधती है, पार्टी नहीं बनती।

इस सम्बन्ध में तो सारनाथ में जो अशोक स्तम्भ पर शिला लेख है, वह सदा ध्यान में रखने जैसा है। शिला लेख पढ़ा जा चुका है। इस शिलालेख में अशोक ने संघभेद के विरुद्ध भिक्षु संघ को चेतावनी दी है। माता-पिता, बुद्ध का खून निकालने की तरह ही गम्भीर है संघ भेद या संघ तोड़ने का अपराध। इसका तो कोई प्रायश्चित भी नहीं।

जो हो, इस सम्बन्ध में गणतन्त्र की एक बुनियादी कमी भी ध्यान में रखने जैसी है। ऐसा नहीं कि यह कोई टूट का औचित्य बताने के लिए है। नहीं, यह उस प्रक्रिया को समझने में सहायक है, जिसका दुखद परिणाम भारत में समाजवादी आन्दोलन की बार-बार की टूट है। इसका व्याख्यान महाभारत के शान्तिपर्व में हुआ है। भीष्म शर-शय्या पर लेटे हुए हैं। सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा में अपने प्राण को रोके हुए हैं। युद्ध समाप्त हो चुका है। दुर्योधन आदि मर चुके हैं। कृष्ण युधिष्ठिर और अन्य पाण्डवों से कहते हैं कि राजधर्म का इतना बड़ा ज्ञाता संसार से उठने वाला है। भीष्म से पूछकर राजधर्म सीख लो। कृष्ण और

द्रौपदी सहित समस्त पाण्डव भीष्म पितामह के पास जाते हैं। युधिष्ठिर प्रश्न पूछते हैं। भीष्म पितामह उत्तर देते हैं। इसी प्रश्नोत्तर में एक गणराज्य के बारे में है। युधिष्ठिर पूछते हैं कि हे पितामह! गणराज्य की क्या विशेषता है? और इसमें क्या दोष है? भीष्म उत्तर देते हैं कि गणराज्य में सम्भूय कारित्व का बड़ा गुण है। समूह के काम करने की इसमें भारी गुंजाइश है। समूह, समाज के कृतित्व, कारित्व की समार्थ्य है, किन्तु इसमें मत्सर का बड़ा दोष है। इसमें गणों में मत्सर, ईर्ष्या, असूया का दोष उत्पन्न होता है। इसका कारण क्या है? अगर इसकी थोड़ी जाँच अलग से की जाए तो यह समझ में आता है।

एक दिन मैं यहीं सारनाथ में वन विहार में बैठकर धमेक स्तूप को देख रहा था। स्तूप के शिखर पर बिजली से बचाव का यन्त्र है। एक धातु की छड़ का सिरा धँसा कर उठा हुआ है। त्रिशूल जैसे आकार का है। उसके आसपास कौवे उड़ रहे हैं। उनमें से उड़ कर एक सबसे ऊँचे सिरे पर बैठ जाता है। बाकी कुछ नीचे, बाकी कहीं नहीं। सिर्फ उड़ रहे हैं। जो सबसे शीर्ष पर है, वह भी त्रिशूल की नोंक पर है। उसमें कुछ खास नहीं। सिर्फ सबसे ऊपर टँगा हुआ है। फिर भी वह अन्य कौओं, जो उसके नीचे हैं और जो कहीं स्थापित नहीं हैं, उनकी ईर्ष्या का पात्र है। सब उड़-उड़ कर उसे चोंच मारते हैं। वह अपनी जगह पर जमा रहना चाहता है और अन्य सब उसे वहाँ से उड़ा देना चाहते हैं। खुद बैठना चाहते हैं। अन्ततः उसे हटाना पड़ता है। फिर दूसरा जो बैठता है, उस पर हमला होता है और यह खेल चलता जाता है।

ऐसा ही गणतन्त्र में होता है। राजतन्त्र में तो राजा के बाद उसका बड़ा बेटा गद्दी पर बैठता है, तो अगर ईर्ष्या-द्वेष है भी तो भाइयों के बीच। गणतन्त्र में तो कोई भी राजा हो सकता है। दो जने साथ काफी हाउस में बैठते हैं। एक एम.एल.ए., एम.पी., फिर मन्त्री बन जाता है। इतने से ही वह मत्सर का शिकार होता है।

तो गणतन्त्र में मत्सर का दोष है। पितामह यह भी कहते हैं कि आकस्मिक क्रोध या लोभ से गणमुख्य आपस में बात करना बन्द कर देते हैं, तो गणराज्य टूट जाता है।

तो यह गणतन्त्र या जनतन्त्र की पार्टी या राज्य या सरकार के टूट की व्याख्या है। जब समाजवादी आन्दोलन की टूट की व्याख्या हो तो इस गुह्य व्याख्या को भी ध्यान में रखना अच्छा है। यह टूट का औचित्य नहीं बताता, बल्कि इसका

Scanned with CamScanner

निदान बताता है। इस पर इसका उपचार हो सकता है अन्यथा नहीं।

फिर राजनीति वैसे ही मोह, राग, द्वेषमय है, किन्तु समाजवाद की राजनीति विशेषकर द्वेषचरित है। प्रधान रूप से तीन चरित देखे जा सकते हैं। मोह-चरित, राग-चरित, द्वेष-चरित। यह एक सरलीकृत कामकाजी बँटवारा है। इसमें भी कितने भेद-उपभेद किए जा सकते हैं या भिन्न प्रकार से देखे जा सकते हैं, किन्तु इस बँटवारे में समाजवाद की राजनीति द्वेषचरित है। मुख्य रूप से धनी के प्रति गरीब के द्वेष को, अगर व्यक्तिगत रूप में नहीं तो सम्पत्ति की संस्था के प्रति द्वेष को जगाती है। द्वेष एक तीक्ष्ण साधन है। इसका सावधानी से और सीमित उपाय के रूप में प्रयोग कर भी समता और शन्ति प्राप्त की जा सकती है, किन्तु इसका सामूहिक प्रयोग खतरनाक है, क्योंकि द्वेष को जन्म देता है और सिर्फ शत्रु के प्रति ही नहीं, अपनी के प्रति भी, जबकि राग बाँधता है, स्त्री-पुरुष इत्यादि को। समाजवाद ने वर्ग संघर्ष के जरिए सिर्फ सम्पत्ति के साधन से युक्त और हीन तक ही नहीं, इस संघर्ष को, द्वेष को और क्षेत्रों में भी फैला दिया है। गुणवान-गुणहीन, विद्वान-विद्याहीन, रूपवान-रूपहीन इत्यादि द्वन्द्वों में भी जैसे द्वेष फैल गया है। जाहिर है कि बहुसंख्यक तो गुणहीन, विद्याहीन, आचरणहीन ही हैं। वे गुणवान, विद्वान, आचरणसम्पन्न के प्रति द्वेष करते हैं। चाहते हैं कि वे भी उन जैसे ही हीन, कमतर हो जाएँ। समाजवाद और जनतन्त्र की राजनीति की जहाँ यह विशेषता है कि उसने बहुजन को इतिहास में कुछ करने की सामर्थ्य दी है, वहीं उसका यह दोष भी है। अब अगर यह द्वेषचरित समाजवाद और जनतन्त्र की विशेषता है तो फिर समाजवादी चाहे कितना ही एक-दूसरे को साथी कहें, साथी हैं नहीं और अगर ऐसे ही साथी हैं, तो शत्रु कौन है? तो द्वेष तो तोड़ता है, शत्रु से भी, साथी से भी। इसलिए समाजवादी आन्दोलन में बार-बार टूट हो, सो ही सहज है, न हो तो ही असहज।

काफी हाउस का अनुभव है कि जो भी टेबुल पर से उठा, उसकी सब मिलकर निन्दा शुरू कर देते हैं। इसलिए मेरे एक अनुभवी मित्र तो मेज पर से तभी उठते थे जब और लोग या तो जा चुकते थे या काफी हाउस के बन्द होने का समय हो जाता था।

जो हो, यह द्वेष का दोष तो समाजवाद के मूल में है, क्योंकि वर्ग संघर्ष तो समाजवाद का एक विशेष मान्य हथियार है। मार्क्स एंगेल्स ने **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** में लिखा है कि आदिम साम्यवाद को छोड़कर मनुष्य जाति का इतिहास

Scanned with CamScanner

वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। स्वामी-दास, श्रीमान्-श्रीहीन कृषक-सामन्त, कृषक-दास, पूँजीपति-सर्वहारा के परस्पर-विरुद्ध वर्ग इतिहास में हैं। उत्पादन की प्रक्रिया में समान स्थिति में रहने वाले वर्ग का निर्माण करते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन के एक ढाँचे के अन्तर्गत उत्पादन की शक्तियों का एक हद तक विकास करते हैं किन्तु एक सीमा के बाद इन सम्बन्धों के होते हुए उत्पादन की शक्तियों का आगामी विकास अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे समय पर क्रान्ति आती है। पुरानी व्यवस्था का खोल फट जाता है। नयी व्यवस्था जन्म लेती है। इस प्रकार इतिहास में प्रगति होती है। इतिहास का औजार वर्ग संघर्ष है। सर्वहारा और पूँजीपति वर्ग में संघर्ष अपरिहार्य है। इसमें से पूँजीवाद का कब्र में दफनाया जाना भी अपरिहार्य है। हर व्यवस्था की तरह पूँजीवाद के विनाश के बीज इस व्यवस्था में ही निहित हैं। पूँजी संचय की ऐतिहासिक प्रवृत्ति में से ही उसका विनाश अवश्यम्भावी है। पूँजी के गति के नियमों का अध्ययन कर मार्क्स दास कैपिटल में पूँजीवाद के विकास और अवश्यम्भावी विनाश का सिद्धान्त निरूपित करते हैं। यह विश्लेषण समग्र आर्थिक विश्लेषण का एक नमूना है, किन्तु ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक दोनों ही दृष्टियों से यह सत्य नहीं, मिथ्या है। इसकी वैज्ञानिकता का दावा सिद्ध नहीं होता। यह एक दृष्टि है। यह दृष्टि मार्क्स और मार्क्सवादियों की अपनी पसन्द है। यह वैज्ञानिक रूप से पुष्ट या खण्डित नहीं की जा सकती। पसन्द है तो है, किन्तु इस विश्लेषण में वैज्ञानिकता हो न हो, इसमें निहित कल्पना ने संसार के वंचित समूहों को पकड़ा है। यह कल्पना 'वैज्ञानिक' है, इतिहास में यह प्राप्त की जा सकती है, शोषण की व्यवस्था का अन्त हो सकता है और मुक्ति इस लोक में, बल्कि इसी देह से प्राप्त की जा सकती है, यह कल्पना अपने आप में मुक्तिदायी है या कम से कम इसका आश्वासन देती है। इस कल्पना का, 'यूटोपिया' का आज भी आकर्षण बना हुआ है और समाजवाद में समता का जो आदर्श है, वह तो उतना ही पुराना और पवित्र है जितना गंगा का जल, किन्तु इसके लिए वर्ग संघर्ष एकमात्र उपाय है, यह मानना मनुष्य जाति के अनुभव को झुठलाना है।

मानव जीवन का तन्तु संघर्ष और सहमति के ताने-बाने से बुना हुआ है। इसमें से किसी एक को, संघर्ष या सहमति को ज्यादा तान देने से इस तन्तु का उच्छेद हो जाता है। इसमें भी संघर्ष या हिंसा या द्वेष की चर्या को सामान्य उपाय बनाना भयावह है। तन्त्र ने मोह-राग-द्वेष को भी उपाय की तरह प्रयोग किया

Scanned with CamScanner

है, किन्तु यह तीक्ष्ण उपाय है। अपात्र के हाथ और गुरु के बिना इसका प्रयोग मारक है। वैसे भी पूँजीवादी या 'वास्तविक रूप से विद्यमान समाजवादी' व्यवस्थाओं में श्रम और पूँजी के सहकार से, न कि संघर्ष से जरूरत की और सुख-सुविधा की चीजें और सेवाएँ उपलब्ध होती हैं। वास्तव में भूमि, पूँजी, श्रम, संगठन, उद्यम शोध इत्यादि उत्पादन के साधन हैं। यह सभी मिलकर लागत और मूल्य के अंग हैं। इनमें से किसी एक को चाहे भूमि को या पूँजी को या श्रम को एकमात्र साधन मानना एकांगी है। आधुनिक आर्थिक विचारों के इतिहास में व्यापारवादियों ने विदेशी व्यापार में अनूकूल सुन्तलन को राष्ट्र के आर्थिक विकास का आधार माना। उसके विपरीत प्रकृतिवादियों ने खेती को ही अतिरिक्त उत्पादन का स्रोत माना। खेती से जुड़े किसान और जमींदार वर्ग को ही उत्पादक माना, उद्योग-व्यवसाय में लगे वर्ग को अनुत्पादक और बाँझ कहा। इंग्लैण्ड में क्लासिकी अर्थशास्त्र की परम्परा में श्रम को मूल्य का कारण और माप माना गया। इस परम्परा को, विशेषकर डेविड रिकार्डो के मूल्य के श्रम सिद्धान्त को कार्ल मार्क्स ने अपनी तार्किक परिणति तक पहुँचाया, किन्तु इस मूल्य के श्रम सिद्धान्त के माने हुए दोष हैं। इसकी व्याख्या मूल्य के सिद्धान्त शीर्षक निबन्धों में मैंने, **मैनकाइंड** और आर्थिकी में अनेक वर्षों पूर्व की है। यहाँ उसे दुहराने का प्रयोजन नहीं। इसका जिक्र भी इसलिए करना पड़ा कि मार्क्सवादी सिद्धान्त में मूल्य के श्रम सिद्धान्त का केन्द्रीय महत्त्व है। हालाँकि श्रीमती जोन राबिंसन जैसी कैम्ब्रिज की मार्क्सवादी अर्थशास्त्री भी **ऐन एसे ऑन मार्क्सियन इकोनॉमिक्स** में इसका स्थान मन्त्र जैसा मानती हैं। अगर एक भेड़ को मारना हो तो जहर दे दीजिए और मन्त्र भी पढ़िए। भेड़ मरेगी तो जहर से, किन्तु प्रभाव मन्त्र का बताया जाएगा। अब यह मन्त्र भी बहुत कारगर नहीं दीखता, क्योंकि अवश्यम्भावी विनाश की भविष्यवाणी के बावजूद, अपनी बदली हुई शक्ल में उन्नीसवीं सदी का पूँजीवाद आज भी चलता जाता है। इस बदलाव में मार्क्सवादी-समाजवादी आलोचना की अपूर्व देन है, किन्तु यह तथ्य है कि पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली समाजवादी से ज्यादा कुशल है। समाजवादी प्रणाली में सामाजिक सुरक्षा ज्यादा है, किन्तु आर्थिक कुशलता कम है। यह बर्लिन की दीवार के दोनों ओर पश्चिम और पूरब में कोई भी देख सकता है। जो तिमिर का रोगी हो या देखते हुए भी न देखना चाहे या प्रज्ञावाद बखाने तो इलाज नहीं।

जो कुछ हो, समाजवाद का लक्ष्य समता है, संघर्ष नहीं। वर्ग संघर्ष अधिक

Scanned with CamScanner

से अधिक तो उपाय है, लक्ष्य वर्गविहीन समाज की रचना का है। आवश्यकता के राज्य से निकलकर स्वतन्त्रता के राज्य में प्रवेश का है, जहाँ वस्तुओं पर शासन होगा, व्यक्तियों पर नहीं, जहाँ राज्य मुर्झा जाएगा, इत्यादि के स्वप्न का आकर्षण है। वास्तविक विद्यमान समाजवादी व्यवस्थाओं में इस अन्तिम ध्येय की प्राप्ति के लिए तो राज्य और पार्टी संगठन की तानाशाही है और वरण की, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन है। यह तो कौमार्य की रक्षा के लिए सम्भोग जैसी विपरीत रीति है।

फिर भारत जैसे एशियाई देश न तो पश्चिमी चाल का पूँजीवाद है, न समाजवाद दोनों की छाया है। छाया ही छाया से लड़ रही है या मेल खा रही है। असलियत इस समाज की कुछ और ही है। आजकल की चालू भाषा में दोनों का ही 'डुप्लीकेट' बाजार में बेचा जा रहा है, असली माल नहीं। फिर, वर्ग संघर्ष के वजन पर यहाँ वर्ण संघर्ष की बात भी कही जा रही है। जैसे वर्गविहीन समाज की रचना के लिए वर्ग संघर्ष, वैसे ही वर्ण-विहीन समाज रचना के लिए वर्ग संघर्ष अपरिहार्य है, ऐसा एक पक्ष का मानना है। इसमें तुक तो बैठ जाता है, किन्तु इससे भारतीय सामाजिक जीवन और संगठन के तन्तु का ही उच्छेद होने का भय है।

फिर वर्ग तो परिवर्तनीय है। जाति तो जन्म से है। अपरिवर्तनीय है। इस जन्म में तो यह कदापि नहीं बदली जा सकती। फिर जब मामला जाति का आता है तो सिर्फ अगड़े-पिछड़े तक नहीं रहता। भारत में तो 5,000 से अधिक जातियाँ हैं और इनका पेचीदा संस्तरण, ऊँच-नीच और शुद्ध-अशुद्ध का विवेक या अविवेक है। इसका क्या हल है? और फिर जाति को आधार मानेंगे तो वह वहीं तक सीमित नहीं रहेगी। फिर तो गोत्र, प्रवर और शाखा इत्यादि का भी प्रश्न उठता है। 'पांडे' में भी कौन 'पांडे' का प्रश्न है। यह तो अन्तहीन गाँठ है। ऐसी आग है, जिसमें देश जल जाएगा।

कोई कह सकता है कि ऐसी विषमातमूलक व्यवस्था का अन्त करने में अगर यह समाज संगठन जल जाए तो जल जाए। इसे बचा कर रखने का मोह, शोक, भय क्यों? यह तो जिनका इसमें निहित स्वार्थ है, श्रेष्ठता का दरजा है। उनका चोंचला है, उनका भय है और फिर यह काल्पनिक भय ज्यादा है। वास्तविक-ऐतिहासिक नहीं। इतिहास में इसी क्रम में समाज राज्य की सत्ता ऊपर के थोड़े-से विशिष्ट जनों से नीचे के सामान्य जनों या कमतर विशिष्ट जनों या

Scanned with CamScanner

विशिष्टता के दावेदारों तक उतरती है। जो अतृप्त होते हैं, वे तृप्त किए जाते हैं और जो तृप्त हैं, वे नीचे लुढ़कते हैं। नीचे वाले ऊपर चढ़ते हैं। यह उदय-व्यय जैसे साँसों का, देह का, चित्त का, वैसे ही समाजों का भी धर्म है। अनित्यता धर्मों की धर्मता है। इसमें से जो सड़ता हुआ जाति और वर्ण और योनि का शव है, उसे कन्धे पर लिए घूमने का उन्माद क्यों हो? इस पर इतना पुराण और काव्य क्यों रचा जाए? इसमें सत्य क्या है? शिव क्या है? सुन्दर क्या है?

सो तो है, किन्तु रास्ता क्या है? उपाय क्या है? मेरी विन्रम सम्मति में इस विषमता को, अपमान को जिसे हम एक क्षण भी बर्दाश्त नहीं कर सकते, उसे पिछड़े और अस्पृश्य स्त्री-पुरुषों को समाज की शान्ति और सौमनस्य के लिए कुछ और दिनों के लिए झेलने को कहना अनैतिक है, लेकिन इस सामाजिक विषमता के मिटाने और समता लाने का रास्ता हिंसा और संघर्ष, वर्ग या वर्ण संघर्ष नहीं।

इस सम्बन्ध में अमरीका के काले लोगों का अनुभव दुहराने जैसा है। वहाँ के आन्दोलन में भी एक धारा नहीं। हिंसा की धारा भी है, किन्तु मार्टिन लूथर किंग की शहादत का साक्ष्य भी है। मार्टिन लूथर किंग को उनके भले मानस गोरे मित्र सुझाते कि आप जिस रंगभेद के विरुद्ध हैं, वह विरोध बराबर है, ठीक है, किन्तु आप थोड़ा और थम जाइए। धीरे-धीरे यह भेद दूर होगा, अन्यथा व्यर्थ खून बहेगा। मार्टिन लूथर किंग का उत्तर है कि जिस अपमान को आप एक क्षण भी बर्दाश्त नहीं कर सकते उसे कुछ और दिनों तक हमें झेलने के लिए कहना अनैतिक है। हाँ, हम यह जानते हैं कि सामाजिक या जातीय परिवर्तन के क्रम में कुछ हिंसा का उपजना अपरिहार्य है किन्तु इसका रास्ता गाँधी ने बताया है। इस दौर में जो खून बहना है, सो हमारा खून बहेगा, गोरों का नहीं। हम अपनी देह और रक्त की बलि दे कर आत्म-सम्मान और समानता का जीवन जिएँगे। मार्टिन लूथर किंग का स्वप्न ईसा मसीह का है, टेकनीक गाँधी की है।

क्या समता के लिए, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-आध्यात्मिक समता के लिए संघर्ष एकमात्र उपाय है? इस बारे में हुज्जत करनी हो तो की जा सकती है। कठमुल्ले समाजवादी का तो गढ़ा-गढ़ाया उत्तर है। संघर्ष से पलायन तो मृत्यु है। संघर्ष जीवन है, लेकिन भारत में समता और स्वतन्त्रता और शन्ति का प्रयोग निजी, एकान्तिक स्तर पर ही नहीं, प्राणिमात्र के लिए भी सुझाया गया है। सो विचारणीय है।

वौद्ध धर्म दर्शन में एक यान महायान है। इसका हीनयान या थेरवाद से

Scanned with CamScanner

विवाद इस प्रश्न को लेकर है कि जब तक एक भी प्राणी दुखी है, आर्त्त है, तब तक वह अरसिक निर्वाण नहीं चाहता बार-बार जन्म लेकर दुखी प्राणिमात्र के निर्वाण के लिए यत्न करना चाहता है। इसके लिए बोधि चित्त का उत्पाद करता है, पारमिताएँ ग्रहण करता है और भूमि मार्ग प्राप्त करता है और प्रतिज्ञा करता है। उसकी प्रतिज्ञा है कि जब तक एक भी प्राणी दुखी है, तब तक उसे अरसिक मोक्ष नहीं चाहिए। बोधिसत्व की यह चर्या भी प्राणिमात्र में समता और स्वतन्त्रता और शान्ति के लिए है। इसमें प्रज्ञा के साथ उपाय-कुशलता पर भी बड़ा जोर दिया गया है। प्रज्ञा-उपाय युगनद्ध है। प्रज्ञा के बिना उपाय धन्धा है और उपाय के बिन प्रज्ञा निवीर्य। इसलिए अगर समता, स्वतन्त्रता के नाम पर इतनी विषमता, इतनी परवशता इतनी घुटन हो जैसी कि वास्तविक विद्यमान समाजवादी देशों में है तो भी क्या तोते की तरह उस सिखावन को दुहाते रहना ही एक रास्ता है?

समाजवादी विचार-दर्शन के मूल आधारों की भी इस दृष्टि से परख जरूरी है। मैंने अन्यत्र 'समाजवाद : दृष्टि परीक्षा' की है। इस परीक्षा का परिणाम यह है कि दृष्टि मात्र सदोष है। समाजवाद एक दृष्टि है। यह उन्नीसवीं सदी के पश्चिमी यूरोप में जकड़ी हुई है। भारत सहित एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमरीका में परिस्थिति भिन्न है। यहाँ यह पश्चिमी यूरोप के पूँजीवाद की तरह लागू नहीं है। फिर भी जो नहीं है, वह है, करके इसका अभिनिवेश, आग्रह इस दृष्टि में है, जो मिथ्या है। फिर भी, व्यावहारिक दृष्टि से, जहाँ पूँजीवादी उदारवादी दृष्टि है, वहाँ इसके प्रतिपक्ष के लिए समाजवादी दृष्टि की भी जरूरत हो सकती है। जैसे जहाँ साँप है, वहाँ नेवले की भी जरूरत है, किन्तु यह अपने आपमें कोई अच्छाई नहीं।

वैसे भी धर्म की तरह विचार-दर्शन भी कूलोपम है, बेड़े के समान है। यह नदी पार करने के लिए किया गया सरंजाम है। इसे नदी पार करने पर वहीं तीर पर छोड़ देना है। उसे कन्धे पर ढोना नहीं। सो ही समाजवाद के बारे में है। इसमें जो समता का आदर्श है, सो चित्त में सदा बसा रहे, लेकिन इस पर से जो व्यवस्था बनाई जाए, उसका जो माना हुआ दोष है, उसे दृष्टि के आग्रह से न देखना तो मारक है या सब देशकाल पात्र के लिए एक ही उपाय मानना भी मूढ़ आग्रह है।

सारनाथ में तो बोधिसत्व की चर्या भी विचारणीय है। इसमें समता का मार्ग परात्म समता और परात्म परिवर्तन का है। पर-आत्म की समता, बराबरी ओर पर की जगह आत्म को, खुद को रखकर देखना और तद्नुसार बरतना समता

की प्राप्ति का राजमार्ग है। इस दृष्टि से परार्थ के लिए काम करते रहना या गीता के निष्काम कर्म का भी विचार है। इसे आन्तरिक, आध्यात्मिक, भाव वाचक कहकर खारिज कर देना हो और संघर्ष के द्वारा ही समता और शान्ति तानाशाही के द्वारा स्वतन्त्रता और जनतन्त्र का विपरीत मार्ग अपनाना हो, इसके चलते जो कुछ हो, तो फिर तो कोई बात नहीं।

समाजवाद का आदर्श और व्यवस्था दो स्तर की बात है। समता का आदर्श दूसरी भूमि पर है। व्यवस्था अन्य ही है। व्यवस्था-मात्र सदोष होती है। फिर भी व्यवस्था की जरूरत होती है, किन्तु सम्पूर्ण समता की व्यवस्था करना सम्भव नहीं। इसलिए विषमता आदर्श नहीं। आदर्श तो समता, स्वतन्त्रता और सुख और शान्ति है, किन्तु समाजवाद मात्र व्यवस्थान्तर नहीं। समाजवाद तो समाजवादी से शुरू होता है। तब विश्व में समाजवादी व्यवस्था आ जाए तो समाजवादी समाजवाद माने तो क्या? न माने तो क्या?

अब उस पर से कार्यक्रम क्या है? रास्ता क्या है? क्योंकि आध्यात्मिक और बाह्य दोनों ही रास्तों पर मनुष्य कमोबेश चलकर थक गया है। रास्ता जैसे चुक गया है, किन्तु दुःख नहीं। इसलिए तो दुःख-सत्य है। दुःख है।

इस पर कहा जा सकता है कि दुःख सत्य के साक्षात्कार को 2,500 वर्ष से अधिक हुए फिर भी दुःख है। तो गौतम बुद्ध ने किया क्या? अगर दुःख-ध्वंस होना था तो हो गया होता और अगर अब तक नहीं हुआ तो अब इस मार्ग की सिफारिश नहीं की जा रही है, किन्तु दुख को केन्द्रीय सत्य मानना आज भी सार्थक है। दुःख है, इसको देखना उससे एक हद तक मुक्ति देता है, और अगर नहीं देता तो मुक्ति-व्यक्तिगत या सामाजिक-इस देह के रहते, इस लोक में, इतिहास में होती नहीं। समाजवाद का शब्द वह चीज नहीं। सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन करने से सचमुच वह परिवर्तन होता नहीं। स्वान्तः सुखाय कहकर या बिना कहे भी समाज का भला होता है। सूरज निकलता है तो वह कोई घोषणापत्र जारी नहीं करता, फिर भी सब दूर प्रकाश हो जाता है। यह तो निःशब्द होता है।

यहाँ यह मान लिया जा सकता है कि यह 'मार्ग' आध्यात्मिक, आन्तरिक, मानसिक को प्रथम मानता है। उस पर बल देता है और यह बल जरूरी है, किन्तु पर्याप्त नहीं। उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि समाजवादी उपाय बाह्य, भौतिक, आर्थिक पक्ष पर एकांगी बल देता है। उसकी प्रथमता मानता है। यह

Scanned with CamScanner

भी एकांगी है। इसलिए सम्पूर्ण उपाय-कौशल इसमें है कि अन्तर-बाह्य को समान रूप से साधा जाए। व्यक्ति के मन में, अध्यात्म में, अन्तर में भी परिवर्तन हो और बाहर सामाजिक-आर्थिक सत्ता-व्यवस्था में भी युगपत्, साथ-साथ बदलाव हो तो ही परिवर्तन या क्रान्ति या जो कुछ कहें, सो सम्पूर्ण होती है अन्यथा नहीं।

सो तो है, लेकिन असल में यह कहना कुछ कहना नहीं, क्योंकि यह अन्तर बाह्य का बँटवारा नहीं है। भाषा बँटती है। असल में, कोटि नहीं है और वह है। व्यवहार में, अन्तर-बाह्य का साम्य व्यवहार में ज्यों ही उतरता है, वह इधर या उधर झुक जाता है। यह अनुभव किया जा सकता है। सिर्फ तर्क का यह विषय नहीं। व्यक्ति या समाज या दोनों अन्तर-बाह्य दोनों भूमियों में एक सरीखा नहीं बरतते। एक ही व्यक्ति जीवन के एक दौर में एक ओर अधिक झुक जाता है तो दूसरे में दूसरी ओर फिर इसमें व्यक्तिगत भेद का मनोविज्ञान काम करता है, व्यक्ति-व्यक्ति की रुचि, शक्ति, व्यवहार में सर्व सर्वत्र सर्वदा भेद रहता है। फिर समाजों में भी इस प्रकार एक या दूसरी ओर विभिन्न देशकाल परिस्थिति में रुझान देखा जाता है। इसलिए आदर्श के बखान के लिए तो अन्तर-बाह्य का साम्य ठीक है, किन्तु व्यवहार में वह सधता नहीं। तो ऐसी स्थिति में एक व्यापक आन्दोलन में इन दोनों रुचि, मति, मार्ग के लिए अवकाश और अवसर रहना ही अच्छा है। किसी एक को खारिज करना आन्दोलन को एकांगी और दरिद्र बनाना है।

असल में तो न कोई चीज मात्र आध्यात्मिक है न भौतिक, न दोनों, न दोनों से परे है। व्यवहार में, आध्यात्मिक भी है, भौतिक भी, दोनों भी, दोनों से परे भी। अब यह क्या चीज है? यह कोई पदार्थ नहीं, पद है।

अब इस पर से कोई पूछे कि इस दृष्टि से क्या कार्यक्रम निकलता है? और अगर कोई ठोस कार्यक्रम नहीं है तो यह सब बकवास है। तो कोई कार्यक्रम बताने का मैं अधिकारी नहीं। यह तो जो आन्दोलन में है, वही बता सकता है। आपकी पार्टी के अध्यक्ष, मन्त्री, कार्यसमिति वगैरह ही कार्यक्रम की रूपरेखा स्थिर कर सकते हैं। हैदराबाद का सिद्धान्त वक्तव्य हो या कोई और उसके आधार पर कार्यक्रम तो अपना आपको बनाना है। इस व्याख्यान का यह प्रयोजन भी नहीं।

मनुष्यों के समूह की एक भेड़ जैसी वृत्ति भी है, जो एक गड़रिये की तलाश में रहती है, जो उसे हँकाता रहे। मैं बराबर गलत करता रहूँ, बच्चे की तरह मचलता

Scanned with CamScanner

रहूँ, कोई मुझे बरजता रहे। तो यह व्यक्ति और आन्दोलन के शैशव या किशोर अवस्था में हो तो समझ में आता है। समाजवादी आन्दोलन के पचास साल हुए। अब इसे इस किशारोवस्था से तो निकलकर अपनी जिम्मेदारी खुद वहन करनी है। किसी गड़रिये की भेड़ नहीं बनना है और न कोई भरोसे का गड़रिया ही है। तो अगर दृष्टि, बुद्धि ठीक हो तो जो भी समाजवादी पार्टी या व्यक्ति करे, न करे सो सब ठीक होगा और अगर दृष्टि या रुझान ही गलत हो तो सब गलत होगा। इसकी तो पद-पद पर परीक्षा करते रहना है और चलते रहना है। यह दृष्टि तो मार्ग का प्रथम पद है। इस पर से संकल्प, आजीविका, अभ्यास, संगठन, कार्यक्रम वगैरह बन सकता है अन्यथा नहीं।

❑❑❑

Scanned with CamScanner